चित्र: कोलकाता की एक लकड़ी की मूर्ति, 19वीं शताब्दी से

धर्म और धर्मसंकट: भारतीय देवियां

अनामिका

पेड़-पौधे सूखकर संग्रहणीय हो जाते हैं और स्त्रियां देवत्व के चौखटे में उतरकर। किसी को जीते-जी मार डालने का सबसे सरल उपाय है उसे देवी या देवता घोषित कर देना। किसी को कोई खास नाम देकर हम उसे छवि के एक ऐसे घेरे में बांध देते हैं, जिससे बाहर निकलना खुद उसके वश में नहीं रह जाता।

यह खासा रोचक है कि देवी-देवियां भी ईर्ष्या, प्रतिरोध भावना, कामुकता आदि दोषों के शिकार दिखाए गए हैं। पर देवत्व जब स्त्री पर घटित दिखाया जाता है, तो उससे उम्मीद की जाती है कि इन सब दोषों से परे वह करुणा, क्षमा, सहनशीलता और विनम्रता की मूर्ति हो।

इससे बड़ा सांस्कृतिक षड्यंत्र कोई हो ही नहीं सकता कि *सीता-सावित्री* जैसी 'बागी' स्त्रियों को मूक आज्ञाकारिता से एकाकार करके देखा जाए। न सीता कठपुतली थीं, न सावित्री-दोनों के स्वतंत्र व्यक्त्वि थे और समय आने पर दोनों ने निर्भीक निर्णय का तेज दिखाया। यह विडंबना ही है कि अन्यायी-असंस्कृत और भ्रष्ट पति की भी मूक छाया बनकर रहने वाली दीन-हीन स्त्रियों को 'सीता-सावित्री' कहा जाता है।

सीता और सावित्री सुलझे हुए चरित्र हैं पर वे पालतू कहीं से भी नहीं हैं। सीता के बारे में सबसे बड़ा मिथक खामोश समर्पण का है। सीता अपने समय की पहली महिला थीं, जिसने पति के साथ ही सही घर की चौखट लांघकर अपनी आंखों से दुनिया देखी।

सीता के सामाजिक सरोकार इतने अच्छे थे कि रावण की वाटिका जैसी विकट जगह में भी उन्होंने त्रिजटा-जैसी सखी पा ली। फिर सीता को मूक आज्ञाकारिता के कठघरे में जकड़ने वाले यह क्यों भूल जाते हैं कि सीता का सबसे बड़ा सच है लक्ष्मण-रेखा लांघ जाना यानी अपने विवेक के हिसाब से नियमावलियों में परिवर्तन का साहस। निर्णय गलत भी हो जाए तो क्या, निर्णय लिए गए यही बड़ी बात है। दस में से एक निर्णय किसका गलत नहीं होता!

अपने हिसाब से तो उन्होंने ठीक ही निर्णय लिया- भूखे को भोजन दिया। बाद में सही निर्णय का तेज रावण के वध का कारण बना। सीता कठपुतली होतीं तो रावण कैसे मारा जाता?

किसी को प्रायश्चित का मौका दिए बिना सीता जो धरती में समा गईं, वह भी एक मुखर प्रतिरोध ही था।

इस संदर्भ में *शूर्पणखा* की चर्चा भी आवश्यक है। वह बेचारी सोलह साल की लड़की थी। इस उम्र में मोहित हो जाना कोई बड़ी घटना भी नहीं। जंगल-जैसी रहस्यमय जगह में एक सुंदर पुरुष इधर से उधर टहलता हुआ दिखे और एक सोलह साल की लड़की उससे आकर्षित हो जाए तो समझा-बुझाकार उसे घर भेजने के स्थान पर सीधे उसके नाक-कान काट लेना कहां का न्याय है! लक्ष्मण दरअसल पुरुष-प्रधान समाज के उस बेबुनियाद तर्क पेश करते दिखते हैं कि स्त्री की अपनी यौन संवेदनाएं तो होती ही नहीं, और वह निर्लज्ज बनकर अपनी ओर से प्यार का इज़हार करती है तो दाल में ज़रूर कुछ काला होता है।

सावित्री का तेज भी कम विलक्षण नहीं है। यम एक अनजान थे, कायदे से जिनकी छाया भी जीते-जी उन पर नहीं पड़नी थी। पर सावित्री ने हिम्मत की, उनके पीछे गईं उन्हे बहस में हराया और जीत कर लौटीं। यदि वे अंतर्मुखी बन घुटती रहतीं, दुःख से उभरने के लिए कुछ करतीं-धरतीं नहीं, सिर्फ़ आंसू बहातीं, तो उनकी नियति बदलती भला?

एक अन्य रोचक चरित्र सती यानी *पार्वती* का है। उन्होंने सबसे पहली बगावत अपने पिता प्रजापति दक्ष से की। दूसरी, उस पूरी संभ्रांतावादी व्यवस्था से जो अविकसित जातियों-जनजातियों को भूत-पिशाचों की तरह देखती है और किसी सामाजिक समारोह में उसे बराबरी का दर्जा नहीं देती। पिता के जिस गलत व्यवहार के विरोध में वे आग में कूदीं, उसमें पति ही की नहीं, उनके सब गणदूतों की मुखालफ़त शामिल थी।

शिव बेचारे तो खुद ही दानी हैं। पर उन्हें और सदय होने के पाठ-पढ़ाती पार्वती हमें लोककथाओं में लगातार दिख जाती हैं- 'और दो...और दो! और दो...इसका भाग्य पलटो! उसका पलटो...। कहीं वे चुप्पा बाबा बनी नहीं नज़र आतीं। पार्वती में तो इतनी खुद्दारी थी कि जिस शिव को उन्होंने इतनी तपस्या से पाया, नाराज़ होकर एक दिन उसी को छोड़ चलीं, पीछे मुड़कर नहीं भी देखा। पर शिव नंगे पांव उनके पीछे दौड़े और उन्हें मनाकर ही दम लिया। इसी पुनर्मिलन की याद में झेलम नदी की सृष्टि हुई।

फिर किस तर्क से परंपरा स्त्रियों को चुप्पा बाबा बने रहने का परामर्श देती है? पारंपरिक आदर्श भी तो वैसे नहीं हैं, तो फिर क्या चुप रहकर सहने के आदर्श का यह चक्कर षड्यंत्र की बू नहीं देता? कुछ ऐसा किया जाए जिससे तेज पनपे ही नहीं, औसत बैलों की जमात खड़ी ही रहे बस, जो चुपचाप सिर झुकाए आपका जुआ ढोए?

सचेतन शक्ति का रूप तो *दुर्गा-काली* भी हैं। पर 'चंडी' एक तरह की गाली ही है जो थोड़ा क्रोध दिखाने पर स्त्रियों को दी जाती है। एक खास बात यह है कि मज़बूत स्त्रियां होने के बावजूद दुर्गा-काली व्यक्तित्व के रूप में स्वतंत्र नहीं हैं। इनके जन्म की कथा कुछ ऐसी है— सभी देवता अपना तेज इकट्ठा करके दुर्गा-काली की मूर्ति गढ़ते हैं। फिर इन्हें निर्देश देते हैं कि ये क्या-क्या करें! दुर्गा-काली फिर ठीक वही करती हैं जो करने के लिए इन्हें भेजा गया है — पापियों का विनाश। अपने लक्ष्य से टस से मस न होने वाली ये स्त्री-रोबोट के रूप में उभरती है। दशहरे पर इनके नैहर-ससुराल अपने-जाने की कल्पना जोड़कर समाज इन्हें आदर ज़रूर देता है, पर अपनी उग्र प्रतिक्रियावादी छवि के कारण इनका रूप नारीवादियों से मिलता-जुलता सा है।

सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री थीं पर ब्रह्मा ने उनसे समागम किया। 'इनसेस्ट' का यह आदिकालिक उदाहरण है और अपने-आप में बड़ा सांकेतिक भी। जो विद्या का वरण करती है, उनके पथ पर सबसे बड़ी रुकावट उनका अपना परिवार होता है। यहां आकर हम बलात्कार के बड़े प्रश्न से भी आ जुड़ते हैं- बलपूर्वक किसी की देह पर काबू पाने की कोशिश शरीर पर तो गहरे घाव छोड़ती ही है, मन पर भी जख्म छोड़ जाती है।

शरीर के स्तर पर यह एक ऐसी ही दुर्घटना है जैसी किसी के अड़ंगा लगाने पर औंधे मुंह गिर पड़ना। अब अगर औंधे मुंह गिर भी गए तो वैसे ही पड़े तो नहीं रहेंगे! उठना ही पड़ेगा। देवी सरस्वती ने भी यही किया होगा, और इसलिए वे पूज्य हुईं और ब्रह्मा की आज तक कहीं पूजा नहीं होती। यौन शोषण की शिकार लड़कियों के समाने सरस्वती बहुत बड़ा आदर्श हैं।

और *लक्ष्मी* तो शुरू की आधुनिक हैं, क्योंकि वे कभी कैद नहीं रहतीं और उल्लू की सवारी करती हैं जो कुछ सांकेतिक है।

सांकेतिक तो दरअसल अपने यहां का सारा मामला ही है। इस संदर्भ में बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में प्रचलित *गोधन-पूजा* की चर्चा हो सकती है। भैयादूज के दिन मुहल्ले की सब औरतें गोल घेरा बनाकर बैठ जाती हैं और रेंगनी के कांटे उंगलियों-नाखूनों से खूंटकर दबी-ज़बान घर के सभी पुरुषों का नाम लेकर उनके मरने की दुआ करती हैं। यह एक तरह का मानसिक प्रतिशोध है जिसमें साल भर की जितनी भड़ास है, एक बार में निकल जाए।

आगे की प्रक्रिया यह है कि एक-एक कर सबको जिलाया जाता है और 'जिस जीभ से हमने आत्मीय जनों की मृत्यु-कामना की, उस नीच जीभ में कांटे गड़ें' और सचमुच ही रेंगनी का कांटा उठाकर जीभ में चुभा लिया जाता है। फिर बालों की एक लट उंगलियों से सामने खींची जाती है, उस पर सामने बैठी कोई औरत लुटिया से जल डालती है और पूछती है 'क्या पी रही रही हो' तो औरतें कहतीं हैं-'बाप-भाई-दूल्हे की रोग-बलाएं और यमराज का खून।' ज़ाहिर है कि इसके पीछे भावना यह है कि जीवन देने वाली जीवन से कैसे ले सकती है! समय आने पर वह आत्मीय जनों पर झपटने वाले यमराज का ही खून पी लेगी और उन्हें सब रोग-बलाओं से बचाए रखेगी।

मिथकों की एक बड़ी भूमिका यह है कि वे लोकजीवन में गूढ़ स्थितियों का आदर्श समाधान करने वाले चरित्र देते हैं। हर काल में कुछ दुरूहताएं होती हैं जिनसे समाज बार-बार टकराता है। प्रशासन की पेचीदगियों से जुड़ी बातों में तो नहीं, पर प्रेम की पेचीदगियां निबटाने में स्त्री-चरित्र अक्सर आगे कर दिए गए हैं। क्यों?- यह समझने की कोशिश भी ज़रूर करनी चाहिए।

माधवी-शकुंतला-दमयंती-वासवदत्ता हो या *राधा-रुक्मिणी-द्रौपदी*-जीवन के प्रति इनका रुख खुला हुआ है। और ये नायिकाएं इसलिए हैं क्योंकि इनमें पिटी-पिटाई लकीर लांघने का तेज है, अपने सिद्धांत पर अटल रहने की दृढ़ता है। पर यह दृढ़ता उनके व्यक्तित्व को अनावश्यक कठोरता या कटुता नहीं देती। वे रो लेती हैं, पर काम-काज छोड़कर पड़ नहीं जातीं।

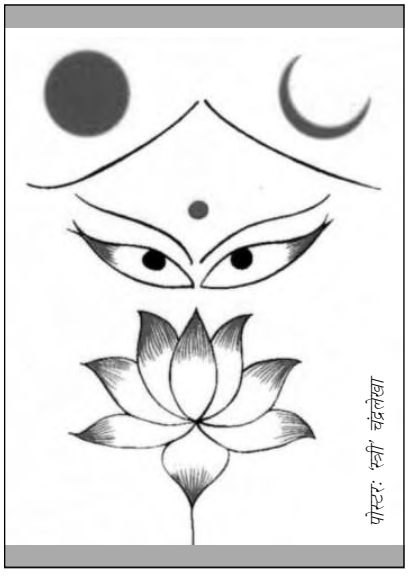

पोस्टर: 'स्त्री' चंद्रलेखा

एकनिष्ठ समर्पण ही प्रेम का एकमात्र सच नहीं है। व्यक्तित्व की अनेक अंतर्धाराएं हो सकती हैं और उन अलग-अलग धाराओं का जुड़ाव अलग-अलग बिंदुओं से हो सकता है। राधा के साथ कृष्ण की पूजा भारतीय समाज की बड़ी स्थापना है। प्रेम की उन नैतिक-अनैतिक से परे स्थितियों का ये प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनसे स्त्री को बार-बार जूझना पड़ता है।

भारतीय मिथकों का एक अन्य रोचक वर्ग *अप्सराओं* का है। यौवन उनसे रूठता नहीं है वे किसी से बंधकर नहीं रहतीं। वे कलाओं में दक्ष होती हैं और पत्नी-मां आदि के दायित्वों से मुक्त।

डायनों का मिथक और प्रताड़नापूर्ण हैं। सभी जानते हैं कि जो भी औरत चोरी-छुपे कुछ पढ़ जाती थी और ज्ञान का प्रभुत्व गाहे-बगाहे लोगों पर जमा देती थी, उसे लोग डायन कहकर जाति बहिष्कृत कर देते थे। तरह-तरह की अफवाहें उसके चारों ओर बुन दी जाती थीं। उसकी विद्या काली घोषित हो जाती थी, उसे पति-बेटे खा जाने वाली कहकर कई बार सार्वजनिक रूप से ज़िंदा जला भी दिया जाता था।

आज भी स्थिति बहुत बदली नहीं हैं। पढ़ी-लिखी तेजस्वी स्त्रियां बहुधा आजीवन अकेली रह जाती हैं। लोग उनसे खार खाते हैं और उन पर कटुता का जो आरोप लगा दिया जाता है, वह डायन कहे जाने के आरोप से बहुत अलग तो नहीं है!

आधुनिक स्त्री का दुर्भाग्य देखिए कि उसे अपनी लड़ाई खुली सड़क पर लड़नी पड़ रही है। महाराष्ट्र की भक्त-कवि *जनाबाई* की तरह उसके पास कोई 'हरि' नहीं है जिससे वह मन खोलकर यह कह पाए:

हे माधव, देखो न-
कितने तो काम धरे हैं सिर पर,
इतना आटा गूंधना है अभी,
इतने कपड़े कूटने हैं-
आओ भी, हाथ बंटा दो थोड़ा
या फिर तुम हेर दो जुएं ही ज़रा-
कुछ तो करो, कुछ करो।।